ISSN: 2582-7162
Original Article

भारत में राष्ट्रवाद का उदय: उपनिवेशीय एकीकरण से समकालीन जातीय राष्ट्रवाद तक

शोधकर्ता : सुनेक्षा

पर्यवेक्षक: प्रो. यशपाल सिंह, इतिहास विभाग बाबा मस्तनाथ विश्वविद्यालय , अस्थल बोहर रोहतक, हरियाणा

E-mail: suneksha90@gmail.com

सारांश

यह शोधपत्र भारत में राष्ट्रवाद के उदय और उसके रूपांतरण की बहुआयामी यात्रा का विश्लेषण करता है, जो उपनिवेशीय एकीकरण से शुरू होकर समकालीन जातीय राष्ट्रवाद तक फैली है। ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन ने भारत को पहली बार एक राजनीतिक और आर्थिक इकाई में बदला, जिससे राष्ट्रवादी चेतना के बीज पड़े। रेलवे, आधुनिक शिक्षा, प्रेस, और पूंजीवादी अर्थव्यवस्था ने एक साझा अनुभव और विरोध की भावना को जन्म दिया। उन्नीसवीं सदी में भारतीय नवजागरण और सुधार आंदोलनों ने सांस्कृतिक अस्मिता को जागृत किया, वहीं बीसवीं सदी में गांधी के नेतृत्व में यह राष्ट्रवाद एक जन आंदोलन बना, जो सत्य, अहिंसा और समावेश पर आधारित था। स्वतंत्रता के बाद, राष्ट्रवाद का स्वरूप धीरे-धीरे बहुलतावादी से संकीर्ण पहचान-आधारित राजनीति की ओर झुका, जिसने जातीय अस्मिता और अल्पसंख्यकों के अधिकारों को चुनौती दी। यह अध्ययन यूरोप और विकासशील देशों के संदर्भ में राष्ट्रवाद के परिवर्तनशील स्वरूप की भी आलोचनात्मक समीक्षा करता है और यह दिखाता है कि राष्ट्रवाद, जब समावेशी और लोकतांत्रिक होता है, तो वह एक सृजनशील शक्ति बनता है, परंतु जब वह बहुसंख्यकवाद या संकीर्ण पहचान पर आधारित हो जाता है, तो वह विघटन और संघर्ष को जन्म देता है।

मुख्य शब्द: राष्ट्रवाद, उपनिवेशीय एकीकरण, जातीय पहचान, बहुसंख्यकवाद, गांधीवादी आंदोलन, भारतीय नवजागरण, प्रेस, पूंजीवाद, अल्पसंख्यक अधिकार

SDES- International Journal of Interdisciplinary Research is a journal of Open access. In this journal, we allow all types of articles to be distributed freely and accessible under the terms of the creative common attribution- non-commercial share. This allows the authors, readers and all scholars and general community to understand, use and to develop non-commercially work, as long as appropriate credit is given and the newly developed work are licensed with similar terms.

How to cite this article: सुनेक्षा, सिंह य. भारत में राष्ट्रवाद का उदय: उपनिवेशीय एकीकरण से समकालीन जातीय राष्ट्रवाद तक. SDES-IJIR; 2025; 6-2: 1105-1110

Submitted: 20-May-2025; **Accepted:** 03-July-2025; **Published:** 11-July-2025

प्रस्तावना

भारत में राष्ट्रवाद का विकास औपनिवेशिक शासन के दौरान आर्थिक शोषण, सांस्कृतिक अपमान और राजनीतिक अधीनता के खिलाफ एक सामूहिक प्रतिक्रिया के रूप में हुआ। 18वीं सदी के उत्तरार्ध में ब्रिटिश औपनिवेशिक एकीकरण- जैसे कि बंगाल में दीवानी प्राप्ति (1765)- ने राजनीतिक केंद्रीकरण को जन्म दिया, जिसने परोक्ष रूप से राष्ट्रवाद के लिए पृष्ठभूमि तैयार की। 19वीं सदी में आधुनिक शिक्षा, रेलवे, डाक व्यवस्था और प्रेस की स्थापना ने विचारों के आदान-प्रदान को तीव्र किया और "एक भारत" की अवधारणा को जन्म दिया। भारतीय नवजागरण और सुधार आंदोलनों ने सांस्कृतिक अस्मिता को पुनर्परिभाषित किया और उपनिवेशवाद के नैतिक औचित्य को चुनौती दी। गांधी का नेतृत्व 20वीं सदी में राष्ट्रवाद को जन-आंदोलन में बदलता है, जो धार्मिक सहिष्णुता और अहिंसक प्रतिरोध पर आधारित था। स्वतंत्रता के बाद राष्ट्रवाद का स्वरूप धीरे-धीरे बहुलतावादी से संकीर्ण जातीय राष्ट्रवाद की ओर परिवर्तित हुआ, जिसे हालिया दशकों में हिंदुत्व-आधारित पहचान राजनीति ने परिभाषित किया है। यह संक्रमण भारतीय लोकतंत्र के लिए एक गंभीर विमर्श का विषय बन चुका है।

राष्ट्रवाद का अर्थ

राष्ट्रवाद एक ऐसा सामाजिक और राजनीतिक भाव है, जो समय के साथ अनेक रूपों में विकसित हुआ है और इसे किसी एक निश्चित परिभाषा में बांध पाना कठिन है। प्रसिद्ध विद्वान प्रोफेसर सी. जे. एच. हेज के अनुसार, राष्ट्रवाद आधुनिक युग की वह भावना है जो "राष्ट्रीयता" और "देशभक्ति" के संलयन और

अतिशयोक्ति से उत्पन्न होती है। राष्ट्रीयता उस समूह की पहचान है, जो समान भाषा बोलता हो, समान ऐतिहासिक परंपराओं को साझा करता हो और स्वयं को एक विशिष्ट सांस्कृतिक समाज के रूप में देखता हो। यह आवश्यक नहीं कि राष्ट्रीयता हमेशा एक राजनीतिक इकाई हो, लेकिन जैसे ही यह संप्रभुता प्राप्त करती है, वह "राष्ट्र" या "राष्ट्रीय राज्य" बन जाती है। राष्ट्रीयता का आधार न तो केवल नस्ल होता है और न ही भूगोलय बल्कि यह एक सांस्कृतिक और मानसिक भावना है जो लोगों को एकता का अनुभव कराती है। जैंगविल के शब्दों में, "यह एक मानसिक अवस्था है जो राजनीतिक तथ्य से जुड़ी है।"

देशभक्ति का अर्थ अपने जन्मस्थान के प्रति प्रेम से है, जो प्रारंभिक समय में स्थानीय होता था- जैसे कि यूनानियों के लिए एथेंस के प्रति प्रेम। यह प्रेम आगे चलकर गांव, जनजाति, राष्ट्र या राजा तक विस्तारित हुआ। समय के साथ जब मनुष्य की सर्वोच्च निष्ठा राष्ट्र या राष्ट्रीयता से जुड़ गई, तो आधुनिक राष्ट्रवाद का जन्म हुआ। राष्ट्रवाद वह भावना है जो समान संस्थाओं और सांस्कृतिक तत्त्वों के माध्यम से लोगों को एकजुट करती है और एकता उत्पन्न करती है। पश्चिमी देशों में, जहां धर्म या आध्यात्मिक विचारधाराएं अपनी शक्ति खो चुकी हैं, वहां राष्ट्रवाद आज समाजवाद और साम्यवाद जितना ही शक्तिशाली सिद्धांत बन चुका है।

आदर्श रूप में राष्ट्रवाद उन सामाजिक-राजनीतिक आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति है, जो एक राष्ट्र की आत्मा का निर्माण करती हैं। इसमें समूह भावना, साझा भाषा, धर्म, परंपराएं, ऐतिहासिक उपलब्धियां, कला और राजनीतिक विचारधाराएं शामिल होती हैं। हालांकि यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि इन सभी में से कोई एक तत्व अकेले राष्ट्रवाद को जन्म नहीं दे सकता। उदाहरण के लिए, नस्ल महत्वपूर्ण तो है, लेकिन अनिवार्य नहीं है- जैसे कनाडा में अंग्रेज और फ्रांसीसी नस्ल के लोग मिलकर एक ही राष्ट्रीयता का हिस्सा हैं। इसी तरह स्विट्जरलैंड में भी अनेक नस्लें एक साथ रहती हैं। भाषा राष्ट्रवाद का एक सशक्त आधार हो सकती है, परन्तु विविध भाषाओं वाले देश जैसे कि कनाडा, स्विट्जरलैंड, फिनलैंड, बेल्जियम और नीदरलैंड्स में भी मजबूत राष्ट्रवाद विकसित हुआ है।

यूरोप में राष्ट्रवाद

यूरोप में राष्ट्रवाद का उद्भव फ्रांसीसी क्रांति के बाद हुआ, जब "राष्ट्रीय लोकतंत्र" और "व्यक्तिगत स्वतंत्रता" जैसे विचारों ने तीव्र भावना के साथ लोगों को उद्वेलित किया। यह राष्ट्रवाद समय के साथ सैन्यवाद, नस्लवाद, विस्तारवाद और सांप्रदायिकता में परिवर्तित हो गया। राष्ट्रवाद की यह उग्र प्रवृत्ति प्रथम विश्व युद्ध और द्वितीय विश्व युद्ध जैसे भीषण संघर्षों का कारण बनी। फ्रांसीसी क्रांति के बाद प्रचार, शिक्षा और साहित्य के माध्यम से इस विचारधारा को तीव्र रूप में फैलाया गया।

रबीन्द्रनाथ ठाकुर ने इस प्रकार के राष्ट्रवाद को "मानवता-विरोधी प्रक्रिया" कहा था, जिसमें राष्ट्र को ईश्वर मानकर उसकी पूजा की जाती है और नैतिकता, आध्यात्मिकता तथा सह-अस्तित्व के मूल्य नष्ट हो जाते हैं। जर्मनी में प्रोटेस्टेंट और कैथोलिक समुदायों के बीच धार्मिक असहिष्णुता, यहूदियों के प्रति हिंसा, और यूरोप के विभिन्न देशों में जातीय एवं धार्मिक वैमनस्य इसके उदाहरण हैं। स्विट्जरलैंड जैसे कुछ अपवादों को छोड़कर राष्ट्रवाद ने यूरोप के अधिकांश देशों में विनाश और विभाजन ही लाया।

चार्ल्स द गॉल ने फ्रांस को पश्चिमी देशों के गुट से स्वतंत्र करके अपने राष्ट्रहित को प्राथमिकता दी, जबकि जॉन एफ. केनेडी ने फ्रांस की परमाणु नीति पर असंतोष व्यक्त किया। वर्ष 1956 में इंग्लैंड और फ्रांस ने मिस्र पर आक्रमण कर सूएज नहर पर कब्जा करने का प्रयास किया, जिससे स्पष्ट हुआ कि राष्ट्रवाद अब भी साम्राज्यवाद को जन्म दे रहा है।

कम्युनिस्ट देशों में भी यह राष्ट्रवाद प्रवेश कर गया। युगोस्लाविया ने 1948 में मॉस्को की आज्ञाओं को नकारते हुए स्वतंत्र नीति अपनाई। पोलैंड में वाल्दीस्लाव गोमुल्का ने "स्वतंत्र पोलिश कम्युनिज्म" की बात की। हंगरी ने सोवियत वर्चस्व से मुक्ति के लिए विद्रोह किया, जिसे रूसी सेना द्वारा कुचल दिया गया। लिथुआनिया में वर्ष 1972 में सोवियत शासन के विरोध में प्रदर्शन हुए। अल्बानिया ने चीन के पक्ष में खड़ा होकर सोवियत संघ की आलोचना की, वहीं रोमानिया ने भी अमेरिकी और चीनी विवादों में सोवियत समर्थन से इनकार करते हुए स्वतंत्र नीति अपनाई। इन घटनाओं ने यह सिद्ध किया कि कम्युनिस्ट देशों में भी राष्ट्रवाद की भावना अंतर्राष्ट्रीय समाजवाद से अधिक प्रभावशाली सिद्ध हुई। अंततः सोवियत संघ का पतन और शीत युद्ध का अंत इस संकीर्ण राष्ट्रहित की विजय का प्रमाण बना। राष्ट्रवाद और समाजवाद दोनों क्रांतिकारी विचारधाराएँ हैं, परंतु एक का स्वभाव अंतर्राष्ट्रीय और दूसरे का स्वभाव पूर्णतः राष्ट्रीय होता है। यद्यपि राष्ट्रवाद ने इतिहास में अनेक युद्धों और हिंसा को जन्म दिया, फिर भी द्वितीय विश्व युद्ध के बाद यूरोपीय देशों ने अंतर्राष्ट्रीय सहयोग की भावना को अपनाना शुरू किया। संयुक्त राष्ट्र, यूरोपीय आर्थिक समुदाय, नाटो, और अन्य संगठन इस दिशा में प्रेरक सिद्ध हुए। वर्ष 1972 में रिचर्ड निक्सन की मास्को यात्रा और अमेरिका-सोवियत संघ के बीच हुए समझौते से वैश्विक शांति की एक नई दिशा का संकेत मिला।

विकसितशील देशों में राष्ट्रवाद: उपनिवेशोत्तर संकट और पहचान की राजनीति

विकसितशील राष्ट्रों में उपनिवेशों से स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद सत्तारूढ़ अभिजात वर्ग ने यूरोपीय राष्ट्र निर्माण की वंशानुगत परंपरा का अनुकरण करते हुए राज्य निर्माण और राष्ट्र निर्माण को अपने मुख्य लक्ष्य के रूप में अपनाया। इन राष्ट्रों के समक्ष प्रमुख चुनौती यह थी कि वे औपनिवेशिक शक्तियों द्वारा कृत्रिम रूप से जोड़े गए विविध जनजातीय, क्षेत्रीय, भाषाई और धार्मिक समुदायों को एक साझा राष्ट्रीय पहचान में कैसे बदलें। इस उद्देश्य से एकीकृत "राष्ट्रीय संस्कृति" के निर्माण और स्थानीय जातीय पहचानों को समाप्त करने का प्रयास किया गया। सत्ताधारी वर्ग ने बहुसंख्यक समुदाय के समान प्रतीकों और परंपराओं वाले समूहों को साथ मिलाया, जबकि शेष समुदाय बहुसंख्यक वर्चस्व वाले राष्ट्र निर्माण के उपकरण तले कुचल दिए गए। कार्ल डॉयच ने इसे "साझेदारी रहित शासन" की प्रक्रिया कहा, जहाँ राष्ट्रवाद का प्रयोग एक वर्ग के हितों की पूर्ति के लिए किया गया।

विगत कुछ दशकों में उभरे जातीय राष्ट्रवाद ने "भौगोलिक राष्ट्र-राज्य" की वैधता पर गंभीर प्रश्न खड़े कर दिए हैं। आज यह संकट केवल एशिया या अफ्रीका तक सीमित नहीं है, बल्कि कनाडा, फ्रांस, बेल्जियम, यूनाइटेड किंगडम, चीन, भारत, श्रीलंका, इराक, नेपाल, भूटान, पाकिस्तान, बुरुंडी और रवांडा जैसे देशों में भी स्पष्ट रूप से देखने को मिलता है। जहाँ पश्चिमी राष्ट्र बहुल सांस्कृतिक समाज की सच्चाई को स्वीकार करते हुए समावेशी नीतियाँ अपना रहे हैं, वहीं अनेक

https://doi.org/10.47997/sdes-ijir/6.3.2028:1105-1110

विकासशील देशों में अब भी “एक राष्ट्र, एक पहचान” की अवधारणा को थोपने का प्रयास किया जा रहा है। पश्चिमी देशों ने “मेल्टिंग पॉट सिद्धांत“ को त्यागकर बहुविविधता को संस्थागत रूप से स्वीकार कर लिया है, जबकि विकासशील राष्ट्र उस विविधता को मिटाने का प्रयास कर रहे हैं।

अल्पसंख्यक समुदायों द्वारा सत्ता के विकेन्द्रीकरण, सांस्कृतिक स्वायत्तता और समावेश की मांग को अक्सर “राष्ट्रीय अखंडता के लिए खतरा”, “देशद्रोह”, या “विभाजनकारी प्रवृत्ति” जैसे अपमानजनक शब्दों से नकारा जाता है। इसके उत्तर में बहुसंख्यकवाद और वर्चस्ववाद को संस्थागत रूप दिया जाता है, जो सामाजिक समरसता और समानता के मूल सिद्धांतों के विरुद्ध है।

विकसितशील राष्ट्रों की सामाजिक-राजनीतिक संरचना को सबसे अधिक हानि उस अवधारणा ने पहुँचाई है जिसमें वैधानिकता और वैधता दोनों को बहुमत आधारित शासन से जोड़ा गया है। यह विचार शताब्दियों से विविधता और सह-अस्तित्व पर आधारित पारंपरिक बहुल समाजों के लिए घातक सिद्ध हुआ है। आज इन देशों में एक पूर्व-राजनीतिक या पूर्व-चुनावी बहुमत की परिकल्पना की जाती है जो राष्ट्र की पहचान, संघीय संबंधों और समुदायों के बीच के मुद्दों को एकतरफा परिभाषित करता है।

बहुसंख्यक समुदाय राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया को हड़प लेता है और अल्पसंख्यकों को योजनाबद्ध तरीके से राजनीतिक रूप से वंचित कर दिया जाता है। इस बहुसंख्यकवादी मानसिकता के तहत अल्पसंख्यकों को राष्ट्र के लिए “खतरा” के रूप में चित्रित कर उनके दमन को न्यायोचित ठहराया जाता है। उदाहरणस्वरूप, बांग्लादेश के निर्माण के बाद पाकिस्तान के सत्ताधारी वर्ग ने बंगाली हिंदुओं को खो दिया, जिन्हें पूर्व में “हिंदू भारत” से जोड़कर राष्ट्रवाद भड़काने के लिए प्रयोग किया जाता था। इसके बाद उन्होंने “सुन्नी इस्लाम” को राष्ट्रीय पहचान के रूप में स्थापित करते हुए शिया, इस्माइली, अहमदिया, बोहरा तथा उत्तरी जनजातियों को गैर-मुस्लिम घोषित कर उन्हें “काफिर” की श्रेणी में डाल दिया।

लोकतांत्रिक और तानाशाही दोनों ही व्यवस्थाओं में यह बहुसंख्यक-अल्पसंख्यक विभाजन गहराई से व्याप्त है। यद्यपि उनके तरीके भिन्न होते हैं, लेकिन अंतिम परिणाम समान होता है- विविधता और समानता का निषेध। लोकतंत्र में भी यह विभाजन लोकतांत्रिक तर्कों के सहारे वैध बना दिया जाता है, जिससे अल्पसंख्यकों की समस्याओं की उपेक्षा होती है। इससे उबरने के लिए एक नए “पोस्ट-डेमोक्रेटिक विमर्श” और संस्थागत पुनर्गठन की आवश्यकता है।

इसके विपरीत, विकसित राष्ट्रों ने समावेश की राह अपनाई है- जैसे कनाडा का जनमत संग्रह, यूनाइटेड किंगडम का विकेंद्रीकरण, अमेरिका की सकारात्मक कार्यवाही, तथा सोवियत संघ और चेकोस्लोवाकिया का “मुलायम विभाजन”। वहीं, विकसितशील राष्ट्रों में अल्पसंख्यकों का निर्मम दमन कर राष्ट्र निर्माण के नाम पर राज्य निर्माण की नीति अपनाई जा रही है। दो वियतनाम, दो यमन और दो जर्मनी का एकीकरण यह संकेत देता है कि वैचारिक विभाजन भी यदि सामूहिक इच्छा हो तो समाप्त किए जा सकते हैं। परंतु सोवियत संघ, पाकिस्तान, चेकोस्लोवाकिया और यूगोस्लाविया जैसे देशों का विघटन इस बात का प्रमाण है कि जातीय अस्मिता की उपेक्षा किसी भी राष्ट्र को अस्थिर कर सकती है।

1945 से 1989 के बीच हुए 58 बड़े युद्धों में से केवल दो को छोड़कर सभी विकसितशील देशों में हुए। 1945 से 1986 के बीच 128 महत्त्वपूर्ण युद्धों में से 98 प्रतिशत युद्ध उन्हीं देशों में हुए। 1980 के दशक की शुरुआत तक लगभग 16 उपससपवद लोगों की मृत्यु केवल जातीय संघर्षों में हो चुकी थी। 1994 में रवांडा में 750000 से अधिक लोग मारे गए। श्रीलंका, पूर्वी तिमोर, भारत के पूर्वोत्तर क्षेत्र, पंजाब, कश्मीर, कुर्द (इराक-तुर्की), फिलिस्तीन, चेचन्या, बोस्निया, कोसोवो, इथियोपिया, सोमालिया, सूडान, म्यांमार, पाकिस्तान, अल्जीरिया, अफगानिस्तान, अंगोला, कंबोडिया, लाइबेरिया आदि में भी भारी रक्तपात हुआ।

विश्व में लगभग 862 प्रमुख जातीय समूह हैं, और कुछ आकलनों के अनुसार यह संख्या 3000 से अधिक है। इन्हें इतिहास की विभिन्न प्रक्रियाओं द्वारा लगभग 190 राज्यों की सीमाओं में समाहित कर दिया गया है। इन 190 में से केवल 15 राज्य ही ऐसे हैं जो जातीय रूप से एकरूप माने जा सकते हैं और उनमें से भी आधे राज्य सीमा-पार संघर्षों में लिप्त हैं। विश्व की कुल जनसंख्या का केवल चार प्रतिशत से भी कम भाग उन राष्ट्रों में निवास करता है जहाँ राज्य की सीमाएँ उनकी जातीय पहचान से मेल खाती हैं। यह स्पष्ट है कि 96 प्रतिशत से अधिक लोग उन राजनीतिक सीमाओं में रहते हैं जो उनकी प्राकृतिक पसंद या आत्म-निर्णय से मेल नहीं खातीं, और जिन्हें निरंतर असंतोष, विघटनवाद और संघर्ष का सामना करना पड़ता है। जातीयता आज राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय राजनीति के केंद्र में है।

भारत में राष्ट्रवाद: आधुनिक युग की चेतना और राजनीतिक जागरूकता का उदय

भारत में राष्ट्रवाद का उदय भी आधुनिक युग की ही एक विशेष ऐतिहासिक प्रक्रिया है। यह राष्ट्रवाद राजनीतिक और सामाजिक चेतना के विकास तथा जन-इच्छाशक्ति के उभार को दर्शाता है। यद्यपि भारत प्राचीन काल से एक भौगोलिक इकाई के रूप में विद्यमान रहा है, परंतु दीर्घकालीन और विविध ऐतिहासिक कालखंडों में वह राजनीतिक रूप से एकीकृत नहीं था। राजनीतिक एकता जब भी प्रकट हुई, वह प्राकृतिक या सामाजिक सहमति से नहीं, बल्कि सत्ता और बल पर आधारित रही।

इतिहास में कुछ अवसरों पर भारत को एकीकृत शासन व्यवस्था प्राप्त हुई, लेकिन वह भी एक सम्राट की व्यक्तिगत शक्ति और प्रभाव पर निर्भर रही। जैसे ही ऐसे महानायक या शक्तिशाली शासक का वंश समाप्त होता, सम्पूर्ण राजनीतिक ढांचा ढह जाता और भारत पुनः विभिन्न क्षेत्रों, जातियों और राजनैतिक इकाइयों में विभाजित हो जाता।

भारत में सम्राटों द्वारा स्थापित एकता विविध रियासतों की सहमति से नहीं, बल्कि केवल अधिपत्य के आधार पर थी। ये रियासतें सम्राट को कर व निष्ठा देती थीं, परन्तु अपने आंतरिक शासन में स्वतंत्र रहती थीं। जैसे ही केंद्रीय सत्ता कमजोर पड़ती, ये रियासतें अपनी पूर्ण स्वतंत्रता घोषित कर देती थीं। हिंदू, सुल्तान और मुगल शासकों में से कोई भी इस स्थानीय स्वायत्तता को समाप्त नहीं कर सका। यह एकता कभी भी जन-इच्छा पर आधारित नहीं रही, बल्कि ऊपर से थोपी गई थी। सम्राटों के अधिकारी केवल कर वसूली और सैनिक भर्ती में रुचि रखते थे, जनजीवन से उनका कोई संबंध नहीं था। इस प्रकार भारत में एक स्थायी, जनसहभागी राजनीतिक एकता का अभाव बना रहा।

https://doi.org/10.47997/sdes-ijir/6.3.2028:1105-1110

प्राचीन भारत में ग्रामीण जीवन का वास्तविक प्रशासन ग्राम गणराज्य और जाति समितियाँ संभालती थीं। ये समितियाँ भूमि का वितरण, आपसी संबंध, शिक्षा, स्वच्छता और न्याय से जुड़े मामलों का समाधान करती थीं। शासन से ग्रामीण जनता उदासीन रहती थी, जैसा एक कहावत से स्पष्ट होता है- "राजा कोई भी हो, हमें क्या फर्क पड़ता है।"

स्थायी राजनीतिक एकता के अभाव में भारत हमेशा बिखरा रहा, जैसे इटली उन्नीसवीं सदी से पहले था। कार्ल मार्क्स ने 25 जून 1853 को लिखा- "हिंदुस्तान एशिया का इटली है," जहाँ उपज की विविधता तो है, पर राजनीतिक विखंडन भी उतना ही गहरा है। ब्रिटिश उपनिवेशवाद के आगमन के साथ भारत में पहली बार एक वास्तविक राजनीतिक एकता स्थापित हुई। समान मुद्रा प्रणाली, समान न्यायिक व्यवस्था और केंद्रित प्रशासनिक तंत्र ने पूरे देश को हिमालय से कन्याकुमारी तक एकीकृत किया। यह नया प्रशासनिक ढाँचा दूर-दराज के गाँवों तक पहुँच गया और भारत को एक राजनीतिक इकाई के रूप में संगठित किया।

राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का एकीकरण: राष्ट्र चेतना की आर्थिक आधारभूमि

भारत में राष्ट्र चेतना का विकास एकीकृत राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के निर्माण से गहराई से जुड़ा हुआ है। यह एकीकरण तब संभव हुआ जब प्राचीन और मध्यकालीन पूर्व-पुंजीवादी उत्पादन पद्धतियाँ नष्ट हुईं और उनके स्थान पर आधुनिक पुंजीवादी आर्थिक तकनीकों ने जगह ली। ब्रिटिश शासन से पहले, अनेक राजनीतिक क्रांतियों, धार्मिक संघर्षों, युद्धों और राजवंशों के परिवर्तन के बावजूद, भारत का आत्मनिर्भर ग्रामीण अर्थतंत्र अपनी आंतरिक संरचना में लगभग अपरिवर्तित बना रहा। यह व्यवस्था बाहरी हस्तक्षेप से लगभग अछूती थी और स्थानीय स्तर पर सीमित थी। यह पृथक और सीमित ग्राम आधारित अर्थव्यवस्था पूरे देश में किसी भी प्रकार की राष्ट्रीय चेतना को जन्म नहीं दे सकी। राष्ट्र चेतना के विकास के लिए एक साझा आर्थिक जीवन आवश्यक होता है, जो तभी संभव है जब उत्पादक शक्तियाँ उच्च स्तर तक पहुँचें, श्रम का व्यापक विभाजन हो, और चारों ओर आर्थिक आदान-प्रदान का प्रवाह स्थापित हो।

यद्यपि ग्रामीण जीवन में पहले भी कुछ परिवर्तन हुए, वे केवल परिमाणात्मक थे, गुणात्मक नहीं, और राष्ट्र चेतना का विकास नहीं कर सके। वास्तविक परिवर्तन उन्नीसवीं सदी में ब्रिटिश शासन के दौरान हुआ। ब्रिटिश शासन ने अपने हितों के लिए भारत की सामंती व्यवस्था में गहरे बदलाव किए। 1857 के बाद यह परिवर्तन तीव्र हो गया। पुरानी जमींदारी, दस्तकारी और शिल्प व्यवस्था टूट गई। इसके स्थान पर पूँजीपति, बौद्धिक वर्ग, श्रमिक, कृषिश्रमिक, और व्यापारी वर्ग उभरे। यह परिवर्तन यूरोपीय व्यापार, ब्रिटिश प्रशासन और पश्चिमी शिक्षा का परिणाम था, जिसने पहली बार राष्ट्र चेतना की आर्थिक और सामाजिक जमीन तैयार की।

कार्ल मार्क्स ने 25 जून 1853 को न्यूयॉर्क डेली ट्रिब्यून में लिखा कि भारत में हुए आक्रमणों, युद्धों और क्रांतियों ने समाज की सतह को ही छुआ, लेकिन इंग्लैंड ने भारतीय समाज की संपूर्ण संरचना को तोड़ दिया। लंकाशायर के कताई केंद्र और बंगाल के बुनकरों को जोड़ते हुए या उन्हें समाप्त कर, अंग्रेजों ने भारत की पारंपरिक आर्थिक नींव को ध्वस्त कर दिया। उन्होंने लिखा- यह एशिया की सबसे बड़ी और शायद एकमात्र सामाजिक क्रांति थी।

यह परिवर्तन केवल आर्थिक ही नहीं, शहरी जीवन में भी दिखाई देने लगा। जहाँ अशोक की पाटलिपुत्र, हर्ष का कन्नौज या मुगलों की दिल्ली अपने साम्राज्य के पतन की ओर बढ़ रहे थे, वहीं कलकत्ता ब्रिटिश पूँजीवाद के केंद्र के रूप में उभर रहा था। यह एक नया शहर था, जो पारंपरिक ईंट-पत्थर से नहीं बल्कि "कैश नेक्सस" - नकदी संबंध- से जुड़ा हुआ था। कलकत्ता न केवल भौगोलिक रूप से, बल्कि प्रतीकात्मक रूप से भी उस भारत की नयी रचना का केंद्र बन गया था जो पूरानी सामंती और जातीय संरचनाओं से बाहर निकलकर आधुनिक पूंजीवादी व्यवस्था की ओर बढ़ रहा था। "ईस्ट इंडिया कंपनी" अनजाने में सही, परंतु प्रभावी रूप से इस नवभारत की दाई का कार्य कर रही थी।

ब्रिटिश शासन में कलकत्ता के साथ-साथ बॉम्बे, मद्रास जैसे शहरों और व्यापारिक केंद्रों में नए सामाजिक वर्ग उभरने लगे। ये शहर केवल व्यापारिक नहीं थे, बल्कि पश्चिमी मॉडल पर आधारित नगरपालिका व्यवस्था से संचालित होते थे। इन नगरों में एक नया शिक्षित और संगठित भारतीय मध्यवर्ग विकसित हुआ, जो ग्रामीण जनता से अलग था। हालांकि यह सामाजिक पुनर्गठन असमान रहा, फिर भी इन नए वर्गों ने राष्ट्रीय स्तर पर अपनी आर्थिक और राजनीतिक पहचान बनाई। व्यापारियों ने अपने संगठन बनाए, जैसे भारतीय उद्योग परिसंघय मजदूरों ने ऑल इंडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस की स्थापना की। इन वर्गों ने महसूस किया कि औद्योगिक विकास, कृषि सुधार, और आधुनिक शिक्षा न केवल उनके, बल्कि पूरे देश के विकास से जुड़ी है। धीरे-धीरे वे राष्ट्रवादी आंदोलन से भी जुड़ने लगे। केवल जमींदार वर्ग इससे अलग रहा, जो लोकतांत्रिक पुनर्गठन के विरुद्ध था और अंग्रेजी शासन से अपने हितों की रक्षा चाहता था।

ग्रामीण अर्थव्यवस्था में परिवर्तन और राष्ट्र का उदय

ब्रिटिश शासन के आने के बाद भारत की पारंपरिक भू-व्यवस्था में क्रांतिकारी परिवर्तन हुए। 1793 में लॉर्ड कॉर्नवालिस द्वारा बंगाल, बिहार और उड़ीसा में स्थायी बंदोबस्त लागू किया गया, जिससे गाँवों की सामूहिक भूमि स्वामित्व व्यवस्था समाप्त हो गई। इसके स्थान पर कुछ क्षेत्रों में सामंतवाद और अन्य स्थानों में व्यक्तिगत किसान स्वामित्व लागू हुआ। अब किसान गांव की आवश्यकताओं के लिए नहीं, बल्कि बाजार के लिए उत्पादन करने लगे, जिससे कृषि का व्यवसायीकरण और विशेषीकरण हुआ। यह परिवर्तन भारत को एकीकृत राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की ओर ले गया। किसानों ने अब अपने उपभोग की वस्तुएँ बाजार से खरीदनी शुरू कीं और गाँव, एक आत्मनिर्भर इकाई से केंद्रित प्रशासन का हिस्सा बन गया। इस आर्थिक एकीकरण ने पहले से बिखरी हुई ग्रामीण जनसंख्या को एक राष्ट्र के विचार से जोड़ा। सस्ते देसी और विदेशी औद्योगिक वस्तुओं ने पारंपरिक हस्तशिल्प उद्योगों को समाप्त कर दिया और भारत को इन वस्तुओं का बड़ा बाजार बना दिया। यह प्रभाव केवल शहरों तक सीमित नहीं रहा, बल्कि गाँव-गाँव फैल गया और भारत को एक वाणिज्यिक रूप से एकीकृत राष्ट्र में बदल दिया। इस प्रक्रिया में अनेक कारीगर व शिल्पकार अपने काम से उजड़कर मजदूरी या खेती में आ गए, जिससे किरायेदारों और खेत मजदूरों का नया वर्ग विकसित हुआ। इन सभी वर्गों ने मिलकर भारतीय समाज की नई सामाजिक-आर्थिक संरचना में अपनी जगह बनाई और साझा हितों व समस्याओं की चेतना उत्पन्न हुई। भारत की स्थिर सामंती अर्थव्यवस्था के पूँजीवादी रूपांतरण से आधुनिक उद्योगों की नींव रखी गई, जिसने अखिल भारतीय स्तर पर राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को और अधिक सुदृढ़ किया।

प्रेस की भूमिका: राष्ट्रवाद का सशक्त माध्यम

आधुनिक शिक्षा और नए सामाजिक वर्गों के विकास ने भारत में प्रेस की उत्पत्ति को जन्म दिया, जिसने भारतीय राष्ट्रवाद को मजबूत आधार दिया। कार्ल मार्क्स ने इसे "एशियाई समाज में पहली बार प्रवेश करने वाला नया और प्रभावशाली पुनर्निर्माण का साधन" कहा। नई बुद्धिजीवी वर्ग ने प्रेस को परिवर्तन का माध्यम माना, जिसने जनता के सामने नए विचार प्रस्तुत किए और समाज में बौद्धिक जागरूकता फैलाई। वे प्रेस को जनसंचार का सबसे शक्तिशाली माध्यम मानते थे, जो समाज में सामाजिक और राजनीतिक सुधार ला सकता था। पुनर्जागरण के नेताओं ने स्पष्ट रूप से समझा कि उनके आधुनिक विचारों और छपाई कला का मेल सामाजिक न्याय और तर्क आधारित व्यवस्था की दिशा में भारत को आगे बढ़ाने में बारूद से भी अधिक प्रभावशाली होगा।

प्रेस राष्ट्रवादी आंदोलन का एक शक्तिशाली माध्यम था जिसने राजनीतिक शिक्षा, विचारों के प्रचार, और स्वराज जैसे सिद्धांतों को जनता तक पहुँचाया। इसने विदेशी शासन की नीतियों की आलोचना की, राजनीतिक आंदोलनों को संगठित करने में मदद की, और विभिन्न समुदायों के बीच विचार-विनिमय द्वारा राष्ट्रीय एकता को सुदृढ़ किया। प्रेस ने एक ऐसी साहित्यिक और सांस्कृतिक चेतना भी विकसित की जो प्रादेशिक होते हुए भी राष्ट्रीय भावना से ओतप्रोत थी।

हितों का टकराव और भारतीय राष्ट्रवाद का विकास

भारतीय राष्ट्रवाद का एक प्रमुख कारण था जनता और विदेशी शासन के बीच हितों का टकराव। भारतीय जनता जहाँ राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और सामाजिक क्रांति चाहती थी, वहीं ब्रिटिश शासन भारत को अपनी साम्राज्यवादी नीतियों के अधीन बनाए रखना चाहता था। इकबाल सिंह ने लिखा, "भारत का नक्शा ब्रिटिश इच्छानुसार और ब्रिटिश हितों के अनुसार तेजी से बदला जा रहा था।" ब्रिटिश नीतियों ने अंततः भारतीय जनता का समर्थन और विश्वास खो दिया। ब्रिटिश शासन के विरुद्ध नए भारत के प्रगतिशील वर्गों का यह संगठित संघर्ष, जो औपनिवेशिक नियंत्रण को चुनौती देता था, भारतीय राष्ट्रवाद के विकास का स्पष्ट प्रतीक बन गया।

भारतीय राष्ट्रवाद ने जहाँ एक ओर ब्रिटिश शासन की कुछ प्रगतिशील उपलब्धियों को स्वीकार किया, वहीं दूसरी ओर उसने उन नीतियों की आलोचना भी की, जिन्होंने भारत की राजनीतिक और आर्थिक प्रगति को अवरुद्ध किया। ब्रिटिश नीतियों ने भारत पर शोषण की एक अनिवार्य प्रणाली थोप दी। भूमि व्यवस्था में बदलाव और पारंपरिक व्यापारों के विनाश ने भारतीय अर्थव्यवस्था के दो प्रमुख क्षेत्रों के संतुलन को तोड़ दिया। कार्ल मार्क्स ने 1853 में लिखा कि ब्रिटिशों द्वारा भारत पर थोपा गया दुख "अभूतपूर्व और अत्यंत तीव्र" था। उन्होंने कहा कि ईस्ट इंडिया कंपनी ने भारत की महान और ऊँची सांस्कृतिक और सामाजिक संरचनाओं को समूल नष्ट कर दिया। पुनर्निर्माण की कोई ठोस प्रक्रिया इस विनाश के ढेर में दिखाई नहीं देती थी। यह अनुभव राष्ट्रवाद की चेतना का एक और आधार बना।

1757 की प्लासी की लड़ाई के बाद अंग्रेजों ने भारत की संपत्ति को व्यवस्थित रूप से इंग्लैंड भेजना शुरू किया, जिससे भारत की उत्पादन प्रणाली की जड़ें हिल गईं। भारतीय धन को इंग्लैंड में पूंजी में बदला गया और वहीं हरग्रीव्स, वॉट, आर्कराइट, क्रॉम्पटन आदि की खोजों का उपयोग कर ब्रिटिश औद्योगिक विकास हुआ, जिसने भारत के प्राचीन उद्योगों को नष्ट कर दिया और भारत को केवल कच्चे माल का स्रोत बना दिया।

1857 में बहादुरशाह जफर के घोषणा-पत्र में स्पष्ट कहा गया कि अंग्रेजों ने मूल्यवान व्यापार पर एकाधिकार कर लिया है, और आम भारतीय केवल तुच्छ वस्तुओं के व्यापार तक सीमित रह गए हैं। कर, शुल्क, डाक, और स्कूलों के चंदों ने व्यापारी वर्ग की कमाई को भी छीन लिया। अंग्रेजी वस्त्रों की आमद से बुनकर, दर्जी, बढ़ई, लोहार, मोची जैसे सभी कारीगर बेरोजगार होकर भिक्षा पर निर्भर हो गए। अंग्रेजी नीतियों ने जन असंतोष की पृष्ठभूमि तैयार की, और 1857 का विद्रोह आर्थिक शोषण के विरुद्ध एक राष्ट्रीय उभार बन गया।

निष्कर्ष

भारत में राष्ट्रवाद की यात्रा केवल स्वतंत्रता प्राप्ति की कहानी नहीं है, बल्कि यह एक गहन सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक पुनर्रचना की प्रक्रिया रही है। उपनिवेशी शोषण ने जहां भारतीय समाज को झकझोरा, वहीं राष्ट्रवाद ने उसे एकता, जागरूकता और संघर्ष की शक्ति दी। गांधी के नेतृत्व में यह आंदोलन जनचेतना का प्रतीक बना, परंतु स्वतंत्रता के बाद इसका रूप बदलकर बहुलता की जगह पहचान-आधारित वर्चस्व की ओर मुड़ गया। आज जब भारत जैसे विविधतापूर्ण राष्ट्र में एकरूपता थोपने की प्रवृत्तियाँ उभर रही हैं, तब राष्ट्रवाद को फिर से मानवीय मूल्यों, समावेश और लोकतांत्रिक संवेदनशीलता से जोड़ने की आवश्यकता है। यदि ऐसा नहीं हुआ, तो वही राष्ट्रवाद जो एकता का आधार बना था, वही विघटन और संघर्ष का कारण बन सकता है। यही राष्ट्रवाद की सबसे बड़ी विडंबना और चेतावनी है।

सन्दर्भ ग्रंथ सूची

- द्रा, विपिन, इंडियाज स्ट्रगल फॉर इंडिपेंड स: 1857-1947, पेंग्विन ब ुक्स, 1989, पृ. 35-40
- सरकार, सुमित, मॉडर्न इंडिया: 1885-1947, मैकमिलन इंडिया, 2002, पृ. 47-49
- बेले, सी. ए., द बर्थ ऑफ द मॉडर्न वर्ल्ड, 1780-1914: ग्ला ेबल कनेक्शंस एंड कंपेरिजन्स, ब्लैकवेल पब्लिशिंग, 1998, पृ. 210-212
- ब्राउन, जुडिथ एम., गांधी: प्रिजनर ऑफ होप, येल यूनिवर्सि टी प्रेस, 1994, पृ. 99-102
- हेज, सी. जे. एच., एसेज ऑन नैशनलिज्म (न्यूयॉर्क मैकमिलन), 1926, पृ. 5-29
- जैंगविल, इजरायल, द प्रिंसिपल्स ऑफ नैशनलिज्म (लंदन: वाटिस एंड कम्पनी), 1917, पृ. 397 का ेहन, हांस, वर्ल्ड ऑर्डर (कैम्ब्रिज: हारवर्ड यूनिवर्सि टी प्रेस), 1942, पृ. 97

- रॉयल इंस्टिट्यूट ऑफ इंटरनेशनल अफेयर्स (लंदन: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सि टी प्रेस), 1939, पृ. ग्टप्ग्ग्
- ठाकुर, रवीन्द्रनाथ, नैशनलिज्म (न्यूयॉर्करू मैकमिलन), 1917, पृ. 50-51
- केनेडी, जे. एफ., द स्ट्रेटेजी ऑफ पीस (न्यूयॉर्क पॉपुलर लाइब्रेरी), 1961, पृ. 132वर्म्यूलन, हांस एवं गोवर्स, कोरा, "फ्रॉम पॉलिटिकल मॉडर्नाइजेशन टू द पॉलिटिक्स ऑफ कॉन्शसनेस", इन वर्म्यूलन, हांस एवं गोवर्स,
- कोरा (संपा.), द पॉलिटिक्स एंड एथनिक कॉन्शसनेस (लंदन: मैकमिलन), 1997, पृ. 3-8
- डॉइच, कार्ल डब्ल्यू., "द ग्रोथ ऑफ नेशंस: सम रिकरेंट पैटर्न्स ऑफ पॉलिटिकल एंड सोशल इंटरएक्शन", इन मैकएलिस्टर, जॉन टी.
- (जूनियर) (संपा.), साउथ-ईस्ट एशिया: द पॉलिटिक्स ऑफ नेशनल इंटीग्रेशन (लंदन: स्टैनफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस), 1973, पृ. 34-35
- गुप्ता, भबानी सेन, "डॉक्टर्स डिलेमा", इकनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली, वॉल. 14, नं. 4, 1991, पृ. 149
- काेठारी, रजनी, एस्केपिंग द ट्रैप ऑफ कल्चरल डाइवर्सिटी (हिमाल: साउथ एशिया), 1992, पृ. 15
- अयूब, मोहम्मद, "सिक्योरिटी ऑफ साउथ एशिया: सर्चिं ग फॉर की वेरिएबल्स", कीनाेट एड्रेस एट द रीजनल सेंटर फॉर स्ट्रेटेजिक13 गुप्ता, भबानी सेन, "डॉक्टर्स डिलेमा", इकनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली, वॉल. 14, नं. 4, 1991, पृ. 149
- काेठारी, रजनी, एस्केपिंग द ट्रैप ऑफ कल्चरल डाइवर्सिटी (हिमाल: साउथ एशिया), 1992, पृ. 15
- अयूब, मोहम्मद, "सिक्योरिटी ऑफ साउथ एशिया: सर्चिं ग फॉर की वेरिएबल्स", कीनाेट एड्रेस एट द रीजनल सेंटर फॉर स्ट्रेटेजिक
- स्टडीज, समर वर्कशॉप, आरसीएसएस न्यूज़लेटर, वॉल. 3, नं. 4, 1997, पृ. 3116 बॉर्थविक, ब्रूस, "दि इस्माइलीज एंड इस्लामीजेशन इन पाकिस्तान", इन सैयद, मोहम्मद असलम (संपा.), इस्लाम एंड डेमोक्रेसी इन
- पाकिस्तान (कराची: क्रिस्टल प्रिंटर्स), 1995, पृ. 183
- गुप्ता, भबानी सेन, "डॉक्टर्स डिलेमा", इकनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली, पृ. 149
- काेठारी, रजनी, एस्केपिंग द ट्रैप ऑफ कल्चरल डाइवर्सिटी, पृ. 42
- लुआर्ड, इवेन, वॉर इन इंटरनेशनल सोसाइटी: अ स्टडी इन इंटरनेशनल सोशियोलॉजी (लंदन: टॉरिस), 1920 कॉनर, वॉकर, एथ्नोनैशनलिज्म: द क्वेस्ट फॉर अंडरस्टैंडिंग (प्रिंसटन: प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस), 1994, पृ. 196-208
- होरोविट्ज, डोनाल्ड एल., एथनिक ग्रुप्स इन कॉन्फ्लिक्ट (बर्क ले: यूनिवर्सि टी ऑफ कैलिफोर्नि या प्रेस), 1986, ग्प्
- आनंद, मुल्क राज (संपा.), मार्कस एंड एंगेल ऑन इंडिया (इलाहाबाद: किताब महल), 1933, पृ. 14-1524 देसाई, ए. आर., सोशल बैकग्राउंड ऑफ इंडियन नैशनलिज्म (बॉम्बे: पॉपुलर बुक डिपो), 1954, पृ. 12-1325 आनंद, मुल्क राज (संपा.), मार्क््स एंड एंगेल ऑन इंडिया, पृ. 16-20
- सिंह, इकबाल, राम मोहन रॉय (बॉम्बे: एशिया पब्लिशिंग हाउस), 1958, पृ. 11827 देसाई, ए. आर., सोशल बैकग्राउंड ऑफ इंडियन नैशनलिज्म, पृ. 4928 आनंद, मुल्क राज (संपा.), मार्क्स एंड एंगेल ऑन इंडिया, पृ. 60
- सिंह, इकबाल, राम मोहन रॉय, पृ. 820
- आनंद, मुल्क राज (संपा.), मार्क्स एंड एंगेल ऑन इंडिया, पृ. 15-16
- रिग्वी, एस. ए. एवं एम. एल. भार्गव (संपा.), फ्रीडम स्ट्रगल इन उत्तर प्रदेश (लखनऊ: पब्लिकेशन ब्यूरो, इन्फॉर्मेशन डिपार्टमेंट), 1957,
- वॉल. 1, पृ. 455-58

https://doi.org/10.47997/sdes-ijir/6.3.2028:1105-1110